

# अन्तः शक्ति के उभार एवं चमत्कार

— श्रीराम शर्मा आचार्य

## अध्यात्म तत्त्वज्ञान का पहला अनुशासन

सरसरी दृष्टि से स्थूल शरीर-काय-कलेवर की समर्थता दो आधारों पर आंकी जाती है कि वह सुधड़-सुडौल हो और चेहरे पर सुन्दरता झलके । बाहर से इतना ही जाना जा सकता है । इसी जानकारी के आधार पर किसी को स्वस्थ, सुन्दर, सुदृढ़ एवं आकर्षक माना जाता है, पर यह उथली परख है । गहराई में उतर कर वस्तुस्थिति परखने वालों को यह भी निरखना-परखना पड़ता है कि जीवनी शक्ति का समुचित भण्डार विद्यमान है या नहीं । भीतरी अवयव अपना ठीक काम करते हैं या नहीं । हृदय, मस्तिष्क, फेंफड़े, गुर्दे, जिगर, पाचनतंत्र, विसर्जन तंत्र के निमित्त काम करने वाले छोटे बड़े पुर्जे अपने-अपने काम को अंजाम दे सकने में समर्थ हैं या नहीं । मशीन का हर कल-पुर्जा यदि सही काम करे तो ही मशीन ठीक काम कर पाती है अन्यथा एक के भी गड़बड़ा जाने से ढाँचा लड़खड़ाने लगता है ।

विकृतियाँ जब तक छोटे रूप में, आरंभिक स्तर पर होती हैं, तो उनकी पीड़ा प्रकट नहीं होती, किन्तु ईंधन में पड़ी चिनगारी धीरे-धीरे सुलगती रहती है और समयानुसार प्रचण्ड वेग धारण कर लेती है । धुन चुपके-चुपके शहतीर को खोखला करता रहता है और उसे धराशायी बना देने की स्थिति उत्पन्न कर देता है । विषाणुओं का आक्रमण एकाकी नहीं होता । वे धीरे-'धीरे अपनी जड़ें जमाते रहते हैं । आरंभ में तो पता भी नहीं चलता, पर जब विस्फोट होता है, तो अनेक छिद्रों से अनेक प्रकार की बीमारियाँ फूट पड़ती हैं । जीर्ण-शीर्ण कपड़े की एक जगह से मरम्मत करने पर वह तनिक-सा दबाव पड़ने पर दूसरी जगह से फटने लगता है ।

जीवनी शक्ति का भण्डार छिपी रुग्णता से लड़ते-लड़ते समाप्त प्राय हो लेता है। तब दवा-दास भी यत्किंचित् काम ही कर पाती है। मनुष्य घटता, टूटता, हारता चला जाता है। गति धीमी भले ही रहे पर वह पूर्णायुष्य भोगे बिना ही अल्पावधि में जिस-तिस बहाने कालक्वलित हो जाता है।

चमड़ी को सजाने के लिये तो वस्त्राभूषण और श्रृंगार प्रसाधन भी किसी हद तक काम दे जाते हैं, पर भीतर घुसी दुर्बलता एवं रुग्णता धीमी गति से अपना काम करती रहती है, फलतः चेहरे से लेकर शरीर के अन्यान्य दृश्यमान अवयव कुफ्लाये, मुरझाये दीखने लगते हैं। काम करने में देर तक समर्थ नहीं रह पाते। थकान जलदी ही आ घेरती है। मन भी उदास या उद्धिग्न असंतुलित रहता है। यह सब चिन्ह इस बात के द्योतक हैं कि काया का अन्तःपक्ष ढगमगाने, गड़बड़ाने लगा। यह स्थिति बताती है कि भविष्य अच्छा नहीं है। उठती जवानी के नये उभार में तो कुछ पता नहीं चलता, पर जैसे ही उभार रुकता है, वैसे ही तेजी से उन क्षीणताओं का दौर चल पड़ता है, जिन्हें बुढ़ापे के रूप में देखा जाता है। जराजीर्ण स्थिति इसी को कहते हैं। क्रिया-शक्ति घटती और निराशा, उद्धिग्नता बढ़ती जाती है।

इस स्थिति का सिलसिला आरंभ होने से पहले ही सतर्क हो जाना चाहिये और गिरावट की रोकथाम करनी चाहिये। बाहर से कोई बड़ा रोग न दीख पड़ने पर भी भीतरी पर्यवेक्षण से पता लगाना चाहिये कि जीवनी शक्ति का समुचित भण्डार विद्यमान है या नहीं। त्वचा के भीतर ढँकी हुई अवयवों की श्रृंखला समग्र रूप से क्रियाशील है या नहीं। विकृतियों का छोटा बड़ा रूप दीख पड़ने से पूर्व ही उसकी मरम्मत कर लेनी चाहिये। क्रिया-कलाप सदा ऐसा रखना चाहिये कि निरन्तर हर आदेश का पालन करने में तत्पर काय-संस्थान को किसी प्रकार की अप्रकट मुसीबत का अब या भविष्य में सामना न करना पड़े।

शरीर प्रकृति पदार्थों से बना है । उसका पोषण भी आहार-विहार में प्रयुक्त होने वाले पदार्थों से ही होता है । इतनी जानकारी तो सभी को होती है कि अन्न, जल, वायु से शरीर पोषण ग्रहण करता है । इन तीनों की स्वच्छता एवं सात्त्विकता बनी रहनी चाहिये । ऋतु प्रभाव के दबावों से यथासंभव बचाव करना चाहिये और जीवन्धम ऐसी आदतों के सहारे चलना चाहिये, जिनके सहारे समस्करता बनी रहे । अतिवाद किसी भी स्तर का क्यों न हो ? संताप उत्पन्न करता है और ऐसे झटके लगाता है, जिनके कारण अच्छी भली गाढ़ी में टूट-फूट होने लगे । अस्त-व्यस्त जीवन जीने वाले ही प्रायः रुग्णता, दुर्बलता और अकाल मृत्यु के शिकार होते हैं । इस विपन्नता से बचने के लिये उस प्रकृति अनुशासन को पालना चाहिये, जिसे अपनाकर सृष्टि के समस्त जीव-जन्तु अपनी विधि व्यवस्था और रीति-नीति को संतुलित करते रहते हैं । इतनी भर सतर्कता से वे निरोग जीवन जीते हैं । ऐसी विपत्तियों में नहीं फँसते, जिन्हें स्व-उपार्जित कहा जा सके ।

समझा यह जाता है कि बहुमूल्य भोजन, बलवर्धक रसायनें, चित्र-विचित्र व्यायाम आदि के कारण शरीर को परिपुष्ट रखा जा सकता है । किन्तु वास्तविकता ऐसी है नहीं । सुसम्पन्न व्यक्ति कितने ही हैं, जिन्हें आहार पर अनाप-शनाप खर्च करने की छूट है, जो पौष्टिकता के लिये प्रत्यात रसायनों का सेवन करने में भी कमी नहीं रखते, जिन्हें थकने वाला परिश्रम भी नहीं करना पड़ता तथा आकर्षकतायें जुटाने में कोई अभाव बाधक नहीं होता । फिर भी देखा गया है कि वे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष परेशानियों में घिरे रहते हैं । इनमें लोक व्यवहार की उलझनें कम और असंयमजन्य अधिक होती हैं । शरीर को सही रखने पर उसकी जितनी आहलादकारी सेवायें उपलब्ध होती हैं, उतना ही यह भी सही है कि यदि उसे अनुचित रीति से सजाया व सताया गया है, तो वह अनेक

प्रकार की रुग्णताओं का त्रास उत्पन्न करके उस जीवधारी को संतप्त करके दण्डित भी करता है।

शरीर को संतोषजनक स्थिति में रखे रहने के लिये अध्यात्म तत्त्वज्ञान की दृष्टि से एक ही अनुशासन है—संयम। इसे यदि ठीक तरह अपनाये रहा जाय तो उसका प्रतिफल हाथों—हाथ उपलब्ध होता रहेगा। स्वस्थता भी असुण्ण बनी रहेगी और सुन्दरता भी हाथ से जाने न पावेगी। क्रियाशक्ति इस योग्य बनी रहेगी कि किसी उपयोगी एवं आवश्यक कार्य के लिये अपने को असमर्थ अनुभव न करना पड़े।

संयम ही सामान्य जीवन का तप साधन है। संचित कुसंस्कारों और सम्पर्क क्षेत्र के वातावरण से सामान्य लोग प्रभावित होते रहते हैं और जैसा कुछ प्रवाह गतिमान हो रहा है उसी में बहने लगते हैं। हलके तिनकों, पत्तों एवं घूलिकणों को तेज हवा अपनी दिशा में उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार साधारण जन समुदाय भी सम्पर्क क्षेत्र की परिस्थितियों से प्रभावित होते रहते हैं। संचित कुसंस्कार भी उद्दण्डता, उच्छ्वस्तुता को, दुष्प्रवृत्तियों को दौड़कर अपनाने के लिये अधित करते हैं। सुधार परिष्कार का प्रशिक्षण न मिलने, श्रेष्ठता का अभ्यास न बन पड़ने से भी मनुष्य ऐसी गतिविधियों अपनाता है, जो पतन का पथ तो प्रशस्त करती ही हैं, क्षिष्ठतया शरीर को विपन्न स्थिति में ला पटकती हैं। असंयम का अर्थव्यवस्था, प्रतिष्ठा, कार्य व्यवस्था, प्रगति संभावना पर तो कुप्रभाव पड़ता ही है, सबसे अधिक प्रभावित उनके कारण शरीर होता है। उसे दुर्बलता और रुग्णता आ घेरती है। चेहरे पर प्रफुल्लता के स्थान पर वेदना और दीनता टपकती है। ऐसों की मुख्याकृति सुन्दर भी हो तो वह निर्जीव, निष्प्राण, निराश रहने के कारण कुरुपता से घिर जाती है।

संयम के कई पक्ष हैं, जिनमें प्रथम है—इन्द्रिय संयम। इन्द्रिय संयम में प्रथम गणना होती है—जिह्वा संयम की। स्वाद के नाम पर चटोरेपन की आदतों के वशीभूत होकर हम

दुष्पाच्य, तमोगुणी, चटपटा, तला-भूना भोजन करते हैं। जीव की लिप्सा के क्षीभूत होकर पेट की स्वाभाविक शक्ति की तुलना में प्रायः ह्यौढ़ा-दूना भोजन स्था जाते हैं। जल्दी और अधिक स्था जाने की उतावली में उसे पूरी तरह चबाते भी नहीं। फलतः पेट को अपनी सामर्थ्य से अधिक काम करना पड़ता है। फलतः वह अपच का शिकार रहने लगता है। बिना पचा भोजन सड़ता है और उस सड़न की विषाक्तता से शरीर के विभिन्न भागों में पीड़ा रहने का सिलसिला शुरू हो जाता है। इस विपत्ति से बचना अपने हाथ की बात है। भोजन की सात्त्विकता नष्ट न होने दी जाय। चटोरेपन को बढ़ाने वाली स्वादिष्टता को प्रश्रय न दिया जाय।

आधा पेट भोजन किया जाय। इसके लिये दो बार का समय नियत रखा जाय। भोजन के एक घण्टा उपरान्त पानी भी धीरे-‘धीरे कई गिलास पेट में पहुँचाया जाय। गहरी सांस लेने की आदत डाली जाय ताकि प्राण वायु पर्याप्त मात्रा में मिले और अवयवों के परिपोषण में काम आ सके। मानसिक श्रम को ही पर्याप्त न माना जाय वरन् शारीरिक श्रम भी जीवनचर्या के साथ इसी प्रकार जुड़ा रखा जाय कि सभी अवयवों को गतिशीलता मिलती रहे और निष्क्रियताजन्य जकड़न अंशक्तता जैसा अवरोध जमने न पाये।

जिह्वा पर नियंत्रण पा सकना आधी स्वास्थ्य रक्षा को सुव्यवस्थित कर लेना है। आहार के साथ विहार जुड़ा हुआ है। विहार का तात्पर्य है दिनचर्या का सुनियोजन, उसमें व्यस्तता का समावेश। श्रम को आवश्यक समझकर उसमें उत्साह बनाये रखना। इसके अतिरिक्त जिह्वा संयम में मधुर संभाषण भी आता है। अपनी नम्रता द्वारा दूसरों को सम्मानित करने का, प्रशंसा करने का अभ्यास रखा जाय, तो समूचे क्षेत्र से स्फूर्यवहार लौट कर मिलता है। उससे चित्त की प्रसन्नता बढ़ती है और स्वास्थ्य सुरक्षित रहता है।

इन्द्रिय संयम का दूसरा पक्ष है—कामुकता पर नियंत्रण।

शरीरगत यौनाचार में अति बरतने की तरह ही मानसिक अस्लील चिन्तन भी स्नायु संस्थान में ऐसी उत्तेजना भरे रहता है, जो दबाव डालने वाले अन्य वजनदार कामों को ढोने से कम सामर्थ्य को छीण नहीं करता । इसे चिन्तन का, दृष्टिकोण का दोष कह सकते हैं । कामुकता में, अस्लील चिन्तन में मस्तिष्क को खपाये रहना या व्यक्तिगत में उन उत्तेजनाओं को क्रियान्वित करते रहना भी ऐसा है, जैसा जल भरे घड़े में छेद कर देना । इससे जीवनी शक्ति की सरस सप्तदा का बेतरह अपव्यय होता है और खोखला व्यक्ति अपनी स्थिरता, समर्थता को अमुण्ण बनाये नहीं रह सकता । कामुकता में अपनी प्रवृत्तियों को असाधारण रूप से नियोजित किये रहने का तात्पर्य है अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारना । आज वातावरण में कामुकता को उत्तेजना देने वाले साहित्य, संगीत, अभिनय, चित्रों आदि की भरमार है, पर किंज व्यक्तियों को तो इस प्रदूषण से आत्म रक्षा करनी ही चाहिये ।

निद्रा में कभी न पड़ने दी जाय । जल्दी सोने और जल्दी उठने का नियम बनाया जाय । खिलाड़ी की भावना से जीवन प्रसंग में आने वाले उतार-चढ़ावों को लिया जाय । हल्का-फुल्का हँसता-हँसाता जीवन जिया जाय । प्रतिकूलताओं को विशेषिकाओं की तरह मन पर हावी न होने दिया जाय । महत्वाकांशों का घटाटोप न संजोया जाय । साथ ही राग-द्वेषों के अतिवाद को असीम न बनने दिया जाय । अपनी साहसिकता और समझदारी के बल पर आने वाले उतार-चढ़ावों का सामना करते रहने का मनोबल बनाये रखा जाय, तो उद्धिन्नता आकर्षकता से अधिक मात्रा में नहीं बढ़ने पाती और गहरी निद्रा में बाधा नहीं पड़ती ।

स्वस्थता, सम्पन्नता, सफलता, सुन्दरता, शालीनता का सम्मिलित प्रदर्शन करने का, सर्वसाधारण को अपनी तेजस्विता से प्रभावित करने का सरलतम तरीका एक ही है कि होठों पर मधुर मुस्कान बनाये रखी जाय । औंखों में आशा की ज्योति

जलने दी जाय । मुखाकृति विजेता जैसी बनाये रखी जाय । अपनी स्थिति को संतोषजनक मानकर चलने वाले ही प्रसन्न मुख रह सकते हैं । इसके लिये असंतोष और उद्देश्य को भड़कने से रोकना पड़ता है । यह अभ्यास साध्य है और निरन्तर प्रयास करते रहने पर सफलता की स्थिति तक पहुँचने के लिये समय साध्य भी । अपने स्वभाव अभ्यास में प्रसन्नता की अभिव्यक्ति सम्मिलित करने और उसे चेहरे पर प्रदर्शित करते रहने की प्रक्रिया ऐसी है, जो स्वस्थता एवं सुन्दरता को अमृण बनाये रखने में असाधारण रूप से सहायक होती है ।

( - )

## स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का समन्वय

मोटी दृष्टि से देखने पर मनुष्य अन्य प्राणियों की तरह हलचल-हरकत करती हुई काया मात्र दिखायी पड़ता है । परस्पर भेद-उपभेद भी कम मालूम पड़ते हैं । मनुष्यों की कायिक संरचना और प्रकृति-प्रवृत्ति भी प्रायः एक जैसी प्रतीत होती है, पर तथ्यों के तर्क अथवा उपकरणों के माध्यम से देखने, घर्गीकरण-विश्लेषण करने पर उनमें बहिरंग एवं अन्तरंग अन्तर भी बहुत दीख पड़ता है । इसी आधार पर उनकी शक्तियों का मूल्यांकन भी किया जाता रहता है । कोई समर्थ, बुद्धिमान, साहसी, सन्तुलित, दूरदर्शी, प्रगतिशील दीख पड़ता है, तो किन्हीं में इन विशेषताओं की न्यूनता एवं अनुपस्थिति भी पाई जाती है । यों यह गुण प्रत्यक्ष औँखों से नहीं देखे जा सकते । छुए या नाए-तौले भी नहीं जा सकते, तो भी उनकी उपस्थिति से इन्कार नहीं किया जा सकता । इन्ही के आधार पर प्रगतिशीलता एवं प्रतिगामिता के तथ्य उभरते हैं । यह विशेषतायें सूक्ष्म क्षेत्र में अन्तर्जगत में रहती हैं । उन्हें समझने की लिये सूक्ष्मदर्शी विश्लेषण बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है ।

इसी आधार पर किसी की महिमा, गरिमा एवं गुणवत्ता को आंका जा सकता है।

स्थूल शरीर के साथ जुड़ी हुई ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अपना-अपना काम करती रहती हैं और कायिक जीवनकी गाड़ी को आगे धकेलती रहती हैं।

बाहर उभरे और प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाले अवयवों के अतिरिक्त चमड़े के भीतर भी अनेक छोटी-बड़ी इकाइयाँ हैं, जो दीख नहीं पड़तीं। उनकी हलचल होती तो रहती है, पर वे प्रत्यक्ष नहीं देखी जा सकतीं। प्रत्यक्ष साधनों से उनकी गतिविधियों का पता नहीं चलता, कभी उनमें खराबी आ जाती है, तो पीड़ा, सूजन, अवरोध आदि का तो भान होता है, यह नहीं जाना जाता कि किस स्थान पर क्या गड़बड़ी चल रही है। इसके लिये अन्य सूक्ष्म माध्यमों का ही प्रयोग करना पड़ता है और उसी आधार पर उस कष्ट का उपचार संभव होता है।

यह स्थूल शरीर के क्रियाकलापों का संक्षिप्त-सा विवेचन है, जिसे व्यवस्थित एवं सक्रिय होते हुए भी उसका बहुत थोड़ा अंश ही देख-समझ पाते हैं। यहाँ इस संदर्भ में यह जानना भी आवश्यक है कि प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाला एक स्थूल शरीर ही सब कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त भी अन्य शरीर एक के भीतर एक घुसे हुए हैं। कुल मिलाकर यह तीन शरीर हैं। प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाले को स्थूल शरीर कहते हैं। इसके अतिरिक्त दो और हैं—एक सूक्ष्म दूसरा कारण। इसका शवच्छेद करके अलग-अलग पृथक्करण तो नहीं किया जा सकता, किन्तु यह नितान्त संभव है कि उनके गुण धर्म को गतिशील रहते देखकर बुद्धिपूर्वक यह जाना जा सके कि इनकी स्वतंत्र सत्ता मौजूद है और क्रमशः एक-दूसरे से अधिक समर्थ है। स्थूल से सूक्ष्म की और सूक्ष्म से कारण की सत्ता एवं महत्ता अधिक मानी जाती है।

तीनों शरीर परस्पर गुण्ठि हुए हैं। उन्हें प्याज के छिलकों या केले के तने की तरह अलग-अलग तो नहीं किया जा सकता किन्तु एक उदाहरण से जाना-पहचाना जा सकता है।

गुलाब के फूल में रंग, महक, स्वाद एवं रासायनिक संरचना में पृथक-पृथक् तत्वों का समीकरण होता है। यदि प्रयोगशाला में इनका पृथक्करण, वर्गीकरण किया जाय तो उन विभागों को अलग-अलग आकार प्रकार में देखा जा सकता है।

स्थूल और सूक्ष्म का अन्तर प्रत्यक्ष है। स्थूल शरीर पंच तत्वों के सूक्ष्म घटकों से बना है। उन्हें त्वचा, रक्त, मांस, अस्ति, मज्जा आदि के स्पष्ट में देखा जा सकता है। कर्मन्द्रियों में शरीरचर्या एवं लोक व्यवहार के विविध विधि क्रियाकलाप चलते हैं। सूक्ष्म शरीर पौँच प्राणों का बना है। उसके प्रतीक पौँच शक्ति केन्द्र है, जिन्हें पंच कोश भी कहते हैं—प्राणमयकोश, अन्नमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश के स्पष्ट में इनकी पहचान की जाती है। इन पौँचों प्राणों का समन्वय महाप्राण के स्पष्ट में समझा जाता है। जीवन चेतना यही है। इसके काया से प्रथक् हो जाने पर मृत्यु हो जाती है। मरे शरीर का तात्त्विक विश्लेषण करने पर उसमें वे सभी रसायन पाये जाते हैं, जिनसे शरीर बना है, किन्तु उनमें से महाप्राण का, चेतना का पलायन हो जाने पर वह निरर्थक हो जाता है। स्वयं सङ्खने और नष्ट होने की क्रिया आरंभ कर देता है। जिन्हें इस निरर्थक का अन्त सुव्यवस्थित रीति से करना हो, वे उसका अग्नि, भूमि, जल के साथ जल्दी समापन कर देते हैं।

प्रश्न यह उठता है कि मरने के उपरान्त जो वस्तु शरीर छोड़कर चली गयी, वह क्या थी? उसका स्वस्प क्या था? जीवन काल में वह कहाँ रही? क्या करती रही? उसकी भावी गतिविधि क्या बनी? इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने से पहले हमें सूक्ष्म शरीर का स्वस्प समझना चाहिये। इस प्रारंभिक पृष्ठभूमि को समझ लेने के उपरान्त ही यह समझ सकना संभव होगा कि जीवनकाल में वह क्या करता है? और मरने के उपरान्त उसकी गतिविधियों का क्षेत्र क्या हो जाता है?

जीवन काल में सूक्ष्म शरीर का स्वस्प “ज्ञान” के स्पष्ट में होता है। इसका केन्द्रीय कार्यालय मस्तिष्क माना जा सकता

है। यों कह चेतना स्थूल शरीर के कण-कण में समाहित है। ज्ञान तनु समस्त शरीर में फैले हुए हैं। वे अपने-अपने क्षेत्र की आवश्यक सूचनाओं को मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं। परिस्थिति से निपटने के लिये क्या उपाय अपनाया जाना चाहिये, इसका निर्देश मस्तिष्क से तुर्त-फुर्त प्राप्त करते हैं और तदनुसार अंग अवयव काम करने लगते हैं।

ज्ञानेन्द्रियों में अतिरिक्त काम करने की शक्ति भी है और आनन्द प्रदान करने की क्षमता भी। औंखें दृश्यों को देखती भी हैं साथ ही दृश्य की सुन्दरता का, विचित्रता का आनन्द भी लेती हैं। यही बात जिह्वा, कान, नाक, त्वचा, जननेन्द्रियों आदि के संबंध में भी है। वे शरीर यात्रा से सम्बन्धित अपने-अपने व्यवहार कर्मों का निर्वाह भी करते हैं और भारभूत दीखने वाले इस नीरस कारखाने में सरसता का समावेश भी करते हैं। यदि इस काया के साथ बहुविधि सरसता जुड़ी न होती, तो समग्र जीवन भारभूत हो जाता। अतिरिक्त निर्वाह के लिये जो प्रयत्न करना पड़ता है, साधन जुटाने में, परिस्थितियों से निवाटने में जो ताना-बाना बुनना पड़ता है, वह भी संभव न होता। यह सूक्ष्म शरीर का सामान्य क्रियाकलाप है, जो मृत्यु हो जाने पर अनायास ही बन्द हो जाता है।

वस्तुस्थिति को समझने पर विदित होता है कि स्थूल शरीर के साथ सूक्ष्म शरीर की सत्ता उसी प्रकार घुली हुई है, जैसे दूध में धी और फूल में इत्र की गंध गुथी होती है। उन्हें चाकू से काटकर अलग नहीं किया जा सकता, किन्तु अन्य आधारों के बल पर यह अनुभव किया जा सकता है कि कोई विशेष सत्ता अपना अस्तित्व रखे हुए अवश्य है, जिसके कारण शरीर की शोषणा, सक्रियता बनी हुई थी। धी निकालने पर दूध मात्र छाछ रह जाता है। इत्र निकालने पर फूल एक कचरा मात्र रह जाता है। इसी प्रकार स्थूल और सूक्ष्म शरीर की सुसंबद्धता जब टूट जाती है, तो दोनों अपनी वास्तविक स्थिति का परिचय देने लगते हैं।

# स्थूल शरीर के विकास हेतु ध्वनि प्रयोग

शरीर और मन द्वारा कन पड़ने वाले सुसंयत लोक व्यवहार के सहारे भी प्रगति और प्रसन्नता का रसास्वादन किया जा सकता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों का प्रत्यक्ष परिशोधन तो किया शुद्धि से ही होता है, पर इतना भर पर्याप्त नहीं है। साथ में उनकी बीज शक्ति को उभारने के लिये विशेष साधनात्मक प्रयोग करने की भी आवश्यकता है। शरीर रक्षा के लिये आहार-विहार की व्यवस्था आवश्यक है, पर इतने भर से ही कोई विद्वान् वैज्ञानिक, डाक्टर आदि नहीं बन जाता। इसके लिये विशेष अध्ययन अध्यास करना होता है; किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि विशेष शिक्षा की व्यवस्था को ही सब कुछ मान लिया जाय और आहार-विहार की व्यवस्था से मैंह मोड़ लिया जाय। दोनों का सुयोग संयोग आवश्यक है। अकेली इट्टि ही दीवार खड़ी नहीं कर देती। उन्हे आपस में जोड़ने के लिये चूना सौमेन्ट भी चाहिये। गाढ़ी के दो पहियों की तरह व्यवहार शुद्धि के साथ ही साधनात्मक प्रयोगों को भी अपनाना पड़ता है।

त्रिवेणी की तीन धाराओं की तरह ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूपी त्रिदेवों की तरह मानवी सत्ता भी तीन भागों में विभक्त है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण। तीनों पृथक् भी हैं और समन्वित भी। तीनों का समावेश होने पर एक पूर्णता विकसित होती है। किन्तु सही स्थिति में तीनों को ही होना चाहिये अन्यथा असंतुलन जन्य विकृति उत्पन्न होती है और व्यक्तित्व गङ्गबड़ी में फँस जाता है। चर्म, मौस और अस्थि का ढांचा तभी तक सही है, जब तक तीनों अपने-अपने स्थान पर सही रूप में अवस्थित हैं। इनमें से एक का भी

गड़बड़ाना उस क्षेत्र की स्वस्थ सुडौलता को आघात पहुँचाता है।

स्यूल शरीर रासायनिक पदार्थों से बना हुआ है। उनमें किसी प्रकार की हलचल उत्पन्न करने के लिये प्रहार की आवश्यकता पड़ती है। प्रत्यक्ष आघात तो हथोड़े जैसे उपकरणों से पहुँचाये जाते हैं। किन्तु अदृश्य जगत में यह कार्य शब्द के द्वारा संभव होता है। सभी जानते हैं कि आघात लगने पर शब्द छनि होती है, किन्तु तथ्य यह भी है कि शब्द से आघात लगता है। किसी बस्तु के गिरने, टूटने, टकराने से शब्द होता है। तोप-बन्दूक चलाने से धमाका होता है, पर यह भी ज्ञातव्य है कि शब्द की भयंकरता भी अनर्थ कर सकती है। तोपों का गर्जन, बमों के विस्फोट गर्भवतियों के गर्भ गिरा देते हैं। घड़कते हृदयों को बन्द कर देते हैं। कान बहरे हो जाते हैं। कोलाहल की अधिकता से अन्य प्रकार के शारीरिक-मानसिक उपद्रव खड़े होते हैं और अदृश्य वातावरण में भी एक प्रकार का असंतुलन आ जाता है। प्रदूषण बढ़ जाता है। जेट यानों की कम्पन लहरें जिधर होकर गुजरती हैं, उधर अस्थिरता, अस्वाभाविकता उत्पन्न करती हैं। रात को भयानक पक्षी छनि करते हैं, तो डर लगता है और नींद उड़ जाती है। फौजी सिपाही कदम मिलाकर चलें, तो उस आवाज से वह लोहे के पुल टूट सकते हैं, जिस पर से वे लोग गुजरे थे। देखा तो यहाँ तक गया है कि किसी मजबूत हॉल में लोहे का मजबूत गार्डर लटका दिया जाय और उस पर क्रमबद्ध रूप से हल्का प्रहार छोटे पेण्डुलम द्वारा किया जाय, तो वह गार्डर टूट सकता है या हॉल फट सकता है।

यह छनि की प्रहार प्रक्रिया हुई। उसका रचनात्मक उपयोग भी है। अमुक स्तर का संगीत बजाकर रोगियों की मानसिकता, जीवन छमता, भाव स्वेदना लहराई जाती है। इस उभार के आधार पर रोग विषाणुओं का समापन एवं आरोग्य को वापस लाने वाले तत्त्वों का उन्नयन होता है। संगीत चिकित्सा अब अपने आप में एक स्वतंत्र चिकित्सा पद्धति बनती

जा रही है। पुरातन काल में उसका उपयोग मेघ-मल्हार गाकर कर्षा कराने में-दीपक राग गाकर बुझे दीपक जलाने के रूप में होता था। बहेलिये मृगों को, सपेरे सौंपें को संगीत के आधार पर वशीभूत करते और पकड़ते थे। आधुनिक वैज्ञानिक पशु-पक्षियों और जलचरों की छमता विकसित करने में लयवद्ध ध्वनि प्रवाह का उपयोग करते हैं। पाया गया है कि इस उपचार से गायें अधिक दूध देने लगीं। मुर्गियों से अधिक अण्डे-बच्चे मिले और मछलियों जल्दी परिपुष्ट हुईं और अपेक्षाकृत कहीं अधिक प्रजनन करने लगीं। यह प्रयोग पेढ़-पौधों पर भी हुआ है। वे इस आधार पर अधिक तेजी से बढ़े और असामान्य रूप से फूले फूले। कृषकों और उद्यान मालिकों ने अपनी फसलों को संगीत सुनाकर अधिक परिपुष्ट करने में सफलता पायी। मानवी मनोरंजन में गायन, वादन, अभिनय का असाधारण स्थान है। उससे उत्साह बढ़ता है। घोड़े नाचते हैं, हाथी झूमने लगते हैं। मेघ गर्जन की ध्वनि पर भावविभूर होकर नृत्य करते देखे गये हैं।

प्रकृति के अन्तराल में तीन शक्ति काम करती हैं—  
( १ ) ध्वनि ( २ ) ताप ( ३ ) प्रकाश। इन्हीं की सूक्ष्म तरणें इस समूचे ब्रह्माण्ड में बिखरी पड़ी हैं। उन्हीं के द्वारा रेडियो, टेलीविजन, लेसर, टेलेक्स आदि उपकरण चलते हैं। एकस किरणें, रेडियो किरणें, लेसर किरणें, मृत्यु किरणें आदि के रूप में इन तरंगों का आश्चर्यजनक उपयोग भी किया जाने लगा है। तरंगें ही सघन होकर अणु-परमाणु के रूप में परिवर्तित होती हैं और अनेक नाम रूप वाले पदार्थों की संरचना करती हैं। इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि समस्त विश्व की अनेकानेक हलचलों को यह ध्वनि प्रवाह ही हिलाता-जुलाता, मोड़ता-मरोड़ता है। इसी आधार पर उत्पादन, अभिवर्धन, परिवर्तन की रीति-नीति सर्वत्र चलती रहती है। उत्साह, उमंग और उल्लास के रूप में तीनों शरीरों को भी सूक्ष्म ध्वनियों अपने ढंग से यथा अवसर प्रभावित करती रहती

है। जीवन और मरण, उत्थान और पतन बहुत कुछ उन्हीं के ऊपर अकलित्तिमय हैं।

त्रिविधि तरंगों में से स्थूल शरीर को ध्वनि तरंगें, सूक्ष्म शरीर को ताप तरंगें और कारण शरीर को प्रकाश तरंगें प्रभावित करती हैं। यों अनायास ही यह संयोग बनता बिगड़ता है और अनैच्छिक प्रभाव उत्पन्न करता रहता है। किन्तु यदि उनका योजनाबद्ध रूप से वैज्ञानिक प्रयोगों की तरह उपयोग किया जा सके, तो इसके इच्छित परिणाम भी होते हैं। बास्तु जला देने पर धमाका तो होता है, पर उसमें अस्त-व्यस्तता रहती है। किन्तु उसी को बन्दूक या तोप की नली में डाल कर किसी लक्ष्य पर केंद्रित करके दागा जाय तो निशाने को निश्चित रूप से घराशायी करने की प्रत्यक्ष परिणति दृष्टिगोचर होती है। ध्वनि तरंगों का उपयोग स्थूल शरीर को प्रभावित करने, उसमें अधीष्ट सुधार परिवर्तन करने के निमित्त किया जा सकता है।

स्थूल शरीर को प्रभावित करने के लिये मंत्र योग का, सूक्ष्म शरीर के लिये प्राणयोग का और कारण शरीर में उपयोगी उभार लाने के लिये ध्यान योग का उपयोग किया जाता है। यों साधनायें अनेकों प्रकार की हैं। परम्परा भेद से उनका उपयोग, उपचार अनेक विधि-विधानों के रूप में किया जाता है। इस प्रकार साधना विज्ञान के अनेकानेक और उपभेद बन जाते हैं। इनमें से जिन्हें अपनी अभिरुचि के अनुसर अपनाना होता है, वे उसका प्रयोग करते रहते हैं। देश, भाषा, परम्परा आदि भेदों के कारण तत्त्वदर्शन अनेक भागों में विभक्त हो गया है, पर इसे एक-दूसरे के प्रतिकूल मानना भूल होगी। एक ही नगर में पहुँचने के लिये विभिन्न दिशाओं के यात्री अलग-अलग मार्ग अपनाते हैं। इतने पर भी वे सभी उस एक ही लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार साधनों के स्वरूप विनियोग अनेकानेक प्रक्रिया पलने पर भी उनके मूल आधार में कोई परिवर्तन नहीं होता।

संसार भर में प्रचलित अनेकानेक योगाभ्यासों को तीन भागों में ही विभक्त किया जा सकता है। बहुलता को सीमाबद्धता में बांधा जा सकता है। मंत्रयोग, प्राणयोग और ध्यान योग की सीमा में प्रायः सभी साधना विधानों को बांधा जा सकता है। मनोविकार और अनैतिक आचरण भी लोभ, मोह और अहंता की पृष्ठभूमि पर उगते हैं। साधनायें भी साहस, संकल्प और सवेदना का अवलंबन लेकर ही आगे बढ़ती और तीनों शरीरों को प्रभावित करती हैं।

पदार्थ परिकर को ध्वनि तरंगों से प्रभावित परिवर्तित, परिष्कृत करने के लिये 'मंत्रयोग' का उपयोग करना होता है। मंत्र में तीन तत्त्व जुड़े हैं—( १ ) शब्दों का गठन ( २ ) साधक का व्यक्तित्व ( ३ ) तथ्य को अन्तःकरण की गहराई तक पहुँचा देने वाला अविचल विश्वास। इन तीनों का जब भी, जहाँ भी, जितना भी समावेश होगा, वहाँ उसकी उपयोगी प्रतिक्रिया निश्चित रूप से परिलक्षित होगी; किन्तु यदि उनमें से एक भी कम पड़ा या त्रुटिपूर्ण रहा, तो उसका अभीष्ट प्रतिफल उत्पन्न होना संदिग्ध हो जायेगा।

मंत्र का गठन दूरदर्शी अनुभवी योगाभ्यासियों द्वारा किया जाता है। वे शब्दों की सम्भावना में अर्थ को प्रधानता नहीं देते वरन् यह देखते हैं कि किस क्रम से अक्षरों का गुणन हुआ और उनके उच्चारण में किस प्रकार का ध्वनि प्रवाह उत्पन्न हुआ। इस मंत्र निर्धारण में प्रायः उनके सृजेताओं को अन्तःस्फुरण से मार्गदर्शन मिलता है। इसलिये वे उसे आकाशवाणी द्वारा ईश्वरीय चेतना द्वारा उद्भूत भी कहते हैं। गायत्री मंत्र, कलमा शरीफ, बपतिस्मा, नमोकार मंत्र, मणिपद्मेहुँ आदि ऐसे ही सनातन कहे जाने वाले मंत्र हैं।

तंत्रयोग के अन्तर्गत एक अक्षर मंत्रों का भी निर्धारण किया गया है। देवनागरी लिपि के कुछ प्रभावशाली अक्षरों के ऊपर अनुस्वार ( - ) लगाकर उन्हें विशेष प्रयोजनों में काम आने वाला बना दिया गया है। ( कं खं गं घं, चं छं जं झं,

पं फं वं भं ) आदि की रचना इसी दृष्टि से हुई है । ऐं श्रीं, कर्लीं, हं, हुं, फट् आदि की भी गणना एकाक्षरी मंत्रों में ही होती है । अर्थ सहित मंत्रों की व्याख्या विवेचना हो सकती है । उनसे शिक्षा ली जा सकती है, पर एकाक्षरी मंत्र बीज रूप है । उनमें शक्ति की प्रधानता है । अभिव्यक्ति नहीं खोजी जा सकती है । इन सबके अपने-अपने प्रभाव हैं । उनका उच्चारण कण्ठ, जीभ, होठ, दाँत, तालु आदि के माध्यम से ही होता है, पर जो ध्वनि स्वरूप समन्वित रूप से बनता है, वह स्थूल शरीर के अन्तराल में रहने वाली विशिष्ट ग्रन्थियों से टकराता है । उस प्रतिक्रिया को समूचे व्यक्तित्व में वितरित करता है । शरीर के अन्तराल में अनेकों गुच्छक, उपत्यकायें, चक्र, ग्रन्थि, अन्तङ्गावी ग्रन्थियों का समुदाय है । इनमें से कुछ के क्रियाकलाप तो जान लिये गये हैं, पर कुछ अभी तक शरीर शास्त्रियों द्वारा समझे नहीं जा सके हैं । हारमोन झावों की विलक्षणता प्रसिद्ध है । उनका प्रभाव काया तक ही सीमित नहीं रहता वरन् स्वभाव और व्यक्तित्व को भी प्रभावित करता है । इस प्रकार की अनेकानेक ग्रन्थियों को संतुलन में लाने, विकसित करने के लिये मंत्र प्रयोगों का आश्चर्यजनक परिणाम उत्पन्न होते देखा जा सकता है ।

शरीर की तरह संसार के अन्यान्य पदार्थ भी मनुष्य को प्रभावित करते हैं । वे पास आते दूर भागते हैं । अनुकूल रहते प्रतिकूल बनते हैं । इस असंतुलन को इच्छानुरूप बनाने में भी मंत्र काम करते हैं । वे वरदान एवं अभिशाप के रूप में भी अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करते हैं ।



# सूक्ष्म शरीर और प्राणाकर्षण

सूक्ष्म शरीर प्राणतत्व से विनिर्भित है। जड़ और चेतन का सम्मिश्रण प्राण है। जिस प्रकार नीला और पीला रंग मिलाने से हरा रंग बनता है। पानी और भिट्टी का सम्मिश्रित रूप कीचड़ के रूप में परिलक्षित होता है, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष का जड़-चेतन का सम्प्रिलन प्राण है। इसी के आधार पर जीवन स्थिर रहता है। जब वह शरीर से पृथक हो जाता है, तो मरण की स्थिति बन जाती है।

प्राणतत्व शरीर में भी विद्यमान है और उसका विराट स्वरूप विश्व ब्रह्माण्ड में संव्याप्त है। जड़-चेतन की एक मात्रा जब आपस में गुथ जाती है, तो उसे जीव की संज्ञा दी जाती है। इसी की विद्यमानता जीवन के नाम से जानी जाती है। वह शरीरगत अवयवों को गति प्रदान करता है साथ ही अहम् की ग्रन्थि बनकर चिन्तन तंत्र के माध्यम से अपनी चेतना का परिचय देता है। चेतना का गुण है-चिन्तन। चिन्तन को ही सजीवता का चिन्ह माना जाता है। आस्था, आकांक्षा, कल्पना, विवेचना आदि उसी के भेद उपभेद हैं। प्राणतान को साहसी समझा जाता है। पराक्रमी, पुरुषार्थी और जीवट के घनी महाप्राण प्रतिभावान होते हैं और अल्प प्राण कहकर दीन दुर्बलों, कायरों, छरपोकों का तिरस्कार किया जाता है। वैभववान होने की तरह प्राणवान होना भी किसी के समर्थ सौभाग्यवान होने का चिन्ह है। उसका वर्तमान सुव्यवस्थित होता है और अविष्य उज्ज्वल।

जिस प्रकार जमीन पर बिखरा हुआ रेत बिना किसी अड़चन के अभीष्ट मात्रा में बटोरा जा सकता है। जिस प्रकार विशाल जलाशय से अपनी आवश्यकता का पानी उपलब्ध

पात्र में भरा जा सकता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड व्यापी महाप्राण में से अपनी सूक्ष्म सत्ता में प्राणतत्व को इच्छित मात्रा में धारण करके अपना चेतन पष्ठ बलिष्ठ बनाया जा सकता है। शरीर की शोभा समर्थता बढ़ाने का भी निमित्त कारण बनता है।

सूक्ष्म शरीर किस स्थिति में रह रहा है, किस स्तर का है? इसका अनुमान इसी आधार पर लगाया जा सकता है कि उसमें प्राणतत्व कितना है? स्थूल शरीर में उसकी विद्यमानता को ओजस् कहते हैं। सूक्ष्म शरीर में उसकी बहुलता तेजस् कहलाती है और कारण शरीर को जब वह ऊर्जा प्रदान करने लगता है तब उसे वर्चस् नाम दिया जाता है।

सूक्ष्म शरीर को लोक व्यवहार के निमित्त कुशल बनाने के लिये चिन्तन हेत्र की परिधि बढ़ानी पड़ती है। शिक्षा का आश्रय लिया जाता है। अनुभव एकत्रित करते हैं। साथ ही मनन-चिन्तन का मन्थन करते हुए दूरदर्शी विवेकशीलता की परिधि तक पहुँचा जाता है। प्रज्ञा का, भेदा का, भूमा का उदय कारण शरीर में होता है, पर उसके पूर्व मानसिक संतुलन की परिष्कृत दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि बनती है।

विचारों की तीव्रता किसी तथ्य की गहराई तक पहुँचती है, जबकि अहंता बनी रहने पर उथली प्रथा परम्पराओं को अपनाकर ही काम चलाया जाता है। समीपवर्ती लोगों को जैसा सोचते करते देखा जाता है, उसी का अनुकरण अनुगमन साधारणजनों में भी चल पड़ता है। वे कोयले के ढेर में से हीरा नहीं बीन पाते। दोनों के बीच रहने वाला अन्तर भी उनकी समझ में नहीं आता। ऐसा दशा में वे स्वतंत्र बुद्धि, उत्कर्ष के लिये, आवश्यकता निर्धारण के लिये समर्थ नहीं होते। नर-पशुओं की तरह जिन्दगी पूरी करते हैं। पेट प्रजन के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं। तृष्णा और अहंता उन्हें कठपुतली की तरह नचाती रहती है।

प्रचलन का सम्मोहन जिन्हें वशवर्ती बनाये रहता है। जो

समुदाय से प्रभावित परिचालित होते हैं। वे सामान्यजनों में ही गिने जाते हैं। उनसे न कुछ महत्वपूर्ण सोचते बनता है और न करते। आहार निष्ठा की लहरों में फूटते-तैरते किसी प्रकार जिन्दगी पार करते हैं। जिन्हें आत्मबोध का प्रकाश मिलता है, वे इतने भर से संतुष्ट नहीं रहते, उन्हें महानता की आकांक्षा कंचोटती है। फलतः ऐसी दिशाधारा खोजते हैं, जो व्यक्तित्व में दैवी तत्त्वों का समावेश कर सकें।

इस मार्ग पर चलने—इस प्रयास में लगने के लिये लौकिक प्रयत्न तो करने ही पड़ते हैं। स्वाध्याय, सत्संग का, चिन्तन—मनन का आश्रय तो लेना ही पड़ता है। साथ ही एक कदम बढ़ाकर प्राणतत्व की अतिरिक्त मात्रा का भी संचय करना पड़ता है। सामान्यतया किसी को प्राण की एक सीमित मात्रा ही उपलब्ध होती है। उस विभूति को अधिक मात्रा में हस्तगत करने के लिये प्राणाकर्षण की विशेष साधना करनी पड़ती है। प्राणाकर्षण का अर्थ है—ब्रह्माण्ड व्यापी महाप्राण में से खींचकर अपनी पात्रता को फुला—फैलाकर उसमें अभीष्ट वैभव को संचित, संकल्पित करना। इसी क्रिया विज्ञान को प्राणायाम भी कहते हैं।

जन्म से मरण पर्यन्त हमें सांस लेने छोड़ने का क्रम चलाना पड़ता है। वायु को नथुनों द्वारा लिया, फेफड़ों में भरा, अंग—प्रत्यंगों में फैलाया जाता है। अपनी पहुँच की परिधि में वह बुहारी लगाती है और कचरे को बाहर निकाल फेंकती है। इसी प्रकार सामान्य परिशोधन होता रहता है। वायु के साथ शरीर को पोषण देने वाला आक्सीजन तत्व भरा रहता है। यही ईंधन बनकर जलता और शरीर संचालन के लिये आवश्यक ऊर्जा ऊर्ज्यन करता है। इतनी जानकारी हर किसी को होती है; किन्तु इस रहस्य को आध्यात्म विज्ञानी ही जानते हैं कि आक्सीजन के अतिरिक्त वायु में प्राणतत्व की उपस्थिति भी रहती है। इसे आक्सीजन नहीं उससे उच्चस्तरीय चेतना मिश्रित धारा कह सकते हैं। यह अनायास में नासिका

मार्ग से भीतर घुसती नहीं रहती करन् उसे संकल्प शक्ति को उभार कर विशेष प्रयास द्वारा खींचने और धारण करने का अभ्यास करना पड़ता है। इस अभ्यास में जितनी अधिक पकड़ होती है, उतनी ही शक्ति लगाकर वह प्राण तत्व को उतनी ही मात्रा में आकर्षित करने, पकड़ने, धारण करने में समर्थ होती है। प्रयोक्ता इसे इच्छित मात्रा में प्रयत्नपूर्वक उपलब्ध कर सकते हैं और उसे जिस भी प्रयोजन में खर्च करना चाहें, उसमें खर्च कर सकते हैं। इसे प्राणविज्ञान कहा जाता है। अध्यात्म शेत्र की इसे एक बड़ी उपलब्धि माना जाता है। अतिरिक्त प्राण का अनेक प्रयोजनों में उपयोग होता है। आक्सीजन तो श्वास-प्रश्वास का प्रयोजन ही पूरा करती है; किन्तु प्राण के द्वारा साधक अपने मानस तंत्र का स्तर भी बढ़ा सकता है और प्रभाव एवं कार्यशेत्र भी।

प्राण के आधार पर सामान्य बुद्धि में जैसी तीष्णता आती है, जैसी कि दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, विशेषज्ञों में देखी जाती है। प्राण के द्वारा मनोविकारों को जलाया जा सकता है। चिन्तन शेत्र में आदर्शवादिता एवं विवेकशीलता का उद्यान उभारा जा सकता है। प्राण का मन पर नियन्त्रण है। चित्त-वृत्तियों के निरोध की, मनोनियह की, एकाग्रता सम्पादन की, आध्यात्म उत्कर्ष के निमित्त पग-पग पर पल-पल में आवश्यकता पड़ती है। मनस्वी बनने के लिये प्राणतत्व की अधिक मात्रा संकलित करनी पड़ती है। इसके बिना ओछी चतुरता ही हाथ रह जाती है और वह कुटिलता भरे छल-प्रपंच ही रचती रहती है। महामानवों जैसी विशेषतायें उत्पन्न करने के लिये मनःशेत्र को प्राण प्रेरणा के माध्यम से उभारना पड़ता है।

प्राण की शक्ति बिजली की तरह धावमान भी है और विद्युत उत्पादक यंत्र की तरह स्थिर भी। उससे आत्मविकास के हर पक्ष में अभिनव चेतना का संचार किया जा सकता है। साधक व्यक्तिवान, प्रतिभावान, विवेकवान और सामर्थ्यवान बन सकता है। इनकी कमी से जिन कठिनाइयों का सामना

करना पड़ता है, उनसे उवर सकता है। साथ ही यह भी संभव है कि इस उपार्जित सम्पदा का एक भाग किसी जस्तरमंद के लिये हस्तांतरित किया जा सके। इसे शक्तिपात भी कहते हैं और प्राण अनुदान-लाभदायक वरदान भी। जिस प्रकार आग की तपती भट्टी के निकट बैठने वाले शीत से मुक्ति पाते हैं, उस ऊर्जा का अनेकानेक कार्यों में उपयोग कर सकते हैं, उसी प्रकार यह भी संभव है, प्राण सम्पदा के धनी द्वारा अपनी उस ऊर्जा को हस्तांतरित किया जा सके। रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द को, चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को, समर्थ ने शिवाजी को मात्र आशीष ही नहीं दिया था। इसके साथ ही इन शिष्यों को प्राण अनुदान भी प्रदान किया था। इसी आधार पर वे व्यक्तित्व सम्पन्न बने और महान् कार्यों का सूत्र संचालन कर सके। ईसा अपनी प्राण चेतना को रोगियों और पतितों में वितरित किया करते थे।

इस शक्ति का दुष्प्रयोजन के लिये भी प्रयोग हो सकता है। तांत्रिक, कापालिक, अघोरी इसी शक्ति के बलबूते प्रतिपक्षियों को त्रास देते हैं। मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, स्तंभन आदि के प्रयोगों से दूसरों को हानि पहुँचाकर अपनी अहंता का पोषण किया जाता है। चाकू से फल काटने का काम भी लिया जा सकता है और किसी पर प्राणघातक आक्रमण करने का भी। यह प्रयोक्ता की मनःस्थिति पर निर्भर है कि शक्ति साधनों को किस के लिये किस प्रकार प्रयोग करे।

प्राणाकर्षण की विद्या सार्वभौम है। इसमें सम्प्रदाय भेद, भाषा भेद, जाति भेद, लिंग भेद आदि के कोई व्यवधान आड़े नहीं आते। यों इस विज्ञान के अनेकानेक भेद-उपभेद हैं और उन्हें विभिन्न कार्यों के लिये विभिन्न प्रकार से प्रयुक्त किया जाता है, पर इन पंक्तियों में आरंभिक स्तर की वह प्रक्रिया ही वर्णित की गयी है, जिसे सर्वसुलभ और सर्कजनीन कहा जा सके।

उस अभ्यास के लिये प्रातःकाल का समय सर्वोत्तम है, क्योंकि रात्रि के शान्त समय में कोलाहल, प्रदूषण, अन्धड़ की सभी अनुपयुक्ततायें नीचे बैठ जाती हैं एवं जलाशयों वृक्ष वनस्पतियों द्वारा सोख ली जाती हैं। प्रभात के ब्रह्ममुहूर्त में प्रकृति अपेक्षाकृत अधिक सौम्य, शान्त एवं शीतल रहती है। आध्यात्मिक साधनाओं के लिये वह समय सर्वोत्तम माना गया है। यों अध्ययन, व्यायाम आदि के लिये भी उस समय की अधिक उपयुक्तता है।

प्राणाकर्षण साधना खुली जगह में करनी चाहिये। शुद्धता जितनी अधिक रह सके, उतनी उत्तम। आसन बिछाकर पूर्वाभिमुख बैठना चाहिये। समय सूर्योदय से एक घण्टा पहले से लेकर एक घण्टा बाद तक कम रखा जा सकता है।

मेरुदण्ड सीधा रहे। औंखें बन्द। हाथ गोदी में। चित्त शान्त। यह ध्यान मुद्रा है। प्राणायाम में भी इसी का उपयोग किया जाता है।

भावना करनी चाहिये कि संसार भर में वायु के साथ—साथ जो प्राण सम्पदा भरी हुई है, उसी को उभारना और खींचना अपना उद्देश्य है। तालाब में जिस प्रकार मछली रहती है, अपनी स्थिति भी कैसी ही अनुभव करनी चाहिये कि प्राण समुद्र चारों ओर लहलहा रहा है और अपनी स्थिति उसके मध्य मछली जैसी है। प्राण सब ओर से अपने भीतर प्रवेश कर रहा है। अपना चुम्बकत्व उसे परिपूर्ण मात्रा में खींचकर अवशोषण कर रहा है। इसी मनःस्थिति में, भाव धारणा में प्रायः दस मिनट रहा जाय।

इसके उपरान्त प्राणायाम का क्रम चलता है। दोनों नथुनों से धीरे-धीरे सांस खींची जाय और उसे जितनी अधिक मात्रा में भरा जा सकता हो, भरा जाय। साथ ही यह संकल्प भी उभरना चाहिये कि सांस के साथ प्रचुर परिमाण में प्राणतत्व भी अन्तराल में प्रवेश कर रहा है। इसी ऊर्जा अवतरण की अनुभूति भी किसी रूप में होती रहे इसके लिये

भावना क्षेत्र को उद्धत एवं तत्पर करना चाहिये ।

सांस खींच चुकने पर उसे भीतर रोका जाय । रोकने का समय खींचने से आधा रहे । इस समय में भावना की जाय कि जो प्राण भीतर पहुँचा है, उसे जीवकोशों द्वारा छूसा जा रहा है और काथा का प्रत्येक घटक उस ऊर्जा से अनुग्राणित हो रहा है ।

अब सांस को छोड़ना आरम्भ किया जाय मान्यता अपनायी जाय कि भीतर भरे समस्त अवांछनीय तत्वों का सांस के साथ बहिर्गमन हो रहा है और उस भार से पूरी तरह मुक्ति मिल रही है । हल्कापन अनुभव हो रहा है ।

पूरी सांस निकल जाने पर जितनी देर भीतर सांस रोकी गयी थी उतनी ही बाहर भी रोकी जाय अर्थात् बिना सांस के रहा जाय और भावना की जाय संसार के बाहरी प्रभाव अपने स्थान पर रुक गये और अन्तर्मुखी स्थिति सुरक्षित हो गयी ।

यह एक प्रयोग हुआ । इसे आरम्भिक दिनों में न्यूनतम दस बार किया जाय । हर सप्ताह एक-एक प्राणायाम बढ़ाया जाय । अन्ततः उसकी संख्या २५ तक पहुँचायी जाय साधना भले ही सीमित हो पर उसके साथ भावना का गहरा पुट लगा रहे । सफलता का यही रहस्य भरा तत्त्वज्ञान है । ◎

## प्राण विद्युत का संवर्धन : तेजोवलय का अभिवर्धन

जीवात्मा के साथ लिपटे हुए तीनों शरीरों का अपना-अपना महत्व अपना-अपना उपयोग है । प्रत्यक्षतः उनके विकास की उत्साहवर्धक उपलब्धि का प्रत्यक्ष जीवन में अनुभव किया जा सकता है । स्थूल शरीर स्वस्थ, समर्थ और सुन्दर लगे, दीर्घायुषी बने, तो उसे हरेक पसन्द करेगा और इस सफलता को अपना सीभाग्य मानेगा । अपने आपको भी अपनी सत्ता शरीर तक

सीमित लगती है। दूसरे तो पूरी तरह वैसा ही मानते हैं। व्यावसायिक, पारिवारिक, सामाजिक सम्बन्ध शरीरों के साथ ही जुड़ते हैं। जन्म पर हर्ष और मरण पर शोक उसी के लिये मनाया जाता है। यह परिचय संपर्क पंच तत्त्वों से बने काय कलेवर के हैं। प्रत्यक्ष की दृष्टि से इतना ही औचित्य भी है और संभाव्य भी, पर जब उसकी सूक्ष्मता में प्रवेश करते हैं, तो विदित होता है कि चेतना क्षेत्र अभी और शेष रह गया। शरीर जड़ ही नहीं, उसके भीतर सचेतन भी चमकता-झौंकता दिखाई पड़ता है। इस शरीर चेतना की अपनी उपलब्धियाँ हैं। उसे कुण्डलिनी शक्ति की विशिष्ट क्षमता समझा जा सकता है। काया रक्त ही नहीं प्राण भी है, इसके आधार पर समर्थता उपलब्ध होती है, किन्तु कायिक प्राण की क्षमता चमत्कारी होती है। उसमें तेजस्विता एवं आकर्षण शक्ति भरी रहती है। किरण की प्रहार क्षमता भी।

जिसकी कुण्डलिनी जागृत है, उसकी काया में ओजस् का प्राण प्रवाह फूलता रहता है। वह सम्पर्क में आने वालों को अपने अनुकूल-अनुरूप बना सकता है। अपने प्रभाव से निकटवर्ती वातावरण को विशेष स्तर का बना सकता है। ऋषियों के आश्रम में सिंह, गाय एक घाट में पानी पीते थे, हिलमिल कर रहते थे, पर जब वहाँ से चले जाते थे, तो पूर्ववत् व्यवहार करने लग जाते थे। प्राण शक्ति का चमत्कार सीमित क्षेत्र में चमत्कार दिखाता है। कुण्डलिनी की क्षमता से साहस और प्रभाव असीम मात्रा में उभरता है। इससे साधक का न केवल आत्म-विश्वास उभरता है, वरन् उसके क्रिया प्रभाव में भी अनेक गुना कौशल भर जाता है। जीवन सामान्य स्तर का न रह कर असामान्य बन जाता है। अनेकों को शक्ति प्रदान करना, ऊँचा उठाना, आगे बढ़ाना ऐसे ही लोगों से बन पड़ता है, जिनके काय कलेवर प्राण ऊर्जा की अतिरिक्त मात्रा से भरे होते हैं। यह जीवन चर्या के संयम, अनुशासन, आत्म-विश्वास और महान दायित्वों के परिवहन से

ही संभव हो सकता है उसका साधनात्मक तरीका यह भी हो सकता है कि कुण्डलिनी जागरण की विधा अपनायी जाय । इसमें जननेन्द्रिय मूल में सन्धिहित महासर्पिणी जैसी प्राण ऊर्जा को जगाया जाता है । वह ज्वाल-माल की तरह ऊँची उठकर मेरुदण्ड मार्ग से मस्तिष्क मध्य ब्रह्मांग्र पहुँचती है । मेरुदण्ड मार्ग से गुजरते हुए उसे उस प्रवाह में विद्यमान छः चक्रों का, चक्रवातों का, भैंशों का वेघन करना होता है । इन केन्द्रों की प्रसुप्त शक्ति जब जागृत होती है तो अपने निकटवर्ती पदार्थों और प्राणियों को प्रभावित करती है । एक सीमा तक वातावरण में भी अभीष्ट परिवर्तन करती है । ऐसी अनेक कसौटियों पर कसने से प्रतीत होता है कि स्वस्थ सामान्यजनों में पायी जाने वाली समर्थता की तुलना में उनकी क्षमता कहीं अधिक विकसित होती है, जिनने उस क्षेत्र की प्राण प्रक्रिया को जगा लिया है । पंचतत्वों में पंच प्राणों का समन्वय हो जाने पर अनेक स्तर के प्रभाव-चमत्कार दीख पड़ते हैं । आवश्यक नहीं कि उन्हें मैस्मरेजम-हिप्नोटिजम की तरह प्रदर्शन के लिये प्रयुक्त किया जाय । बढ़ी हुई क्षमता को उन महत्वपूर्ण कार्यों के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है, जिन्हें महामानवों द्वारा सम्पन्न किये गये महान कार्यों के समतुल्य समझा जा सके । मानवी विद्युत का एक स्वरूप शरीर के ईर्द-गिर्द विद्यमान तेजोवलय के रूप में जाना जाता है । यह एक समर्थ कवच है जो बाहरी आघात आक्रमणों से रक्षा करता है और अन्यान्यों को अपने अनुशासन में चलने के लिये बाधित कर सकता है । ओजस् सचमुच ही शरीर क्षेत्र का एक विद्युत भण्डार है, जिसे समयानुसार अभीष्ट प्रयोजनों के लिये सफलतापूर्वक प्रयुक्त किया जा सकता है ।

ओजस् का वैज्ञानिक पर्यवेक्षण तेजोवलय के रूप में देखा गया है । वह शरीर के चारों और छः इंच की दूरी तक फैला हुआ विशेष यंत्रों द्वारा देखा जा सकता है । चैहरे पर उसकी मात्रा, सधनता की परिधि अधिक होती है । इसे एक

प्रकार की भाष समझा जा सकता है। चूल्हे पर पानी चढ़ा देने से उसमें से भाष उठती है। यह भाष निकट क्षेत्र में तो खुली औंखों से भी देखी जा सकती है, पर कुछ ऊँची उठने के बाद वह बिरल एवं अदृश्य हो जाती है। फिर भी उसका अस्तित्व बना रहता है। रात्रि को शीतलता का सम्पर्क होने पर वह घास-पात पर ओस बिन्दु बनकर जमा हो जाती है। इसी प्रकार सधूल शरीर एवं उसमें समाई हुई प्राण चेतना का समन्वय जब क्रियाशील होता है, तो उस ऊर्जा का भीतरी क्रिया-कलाप जलने के अतिरिक्त त्वचा के बाहर भी उसका फैलाव होता है। यही ओजस् या तेजोवलय है।

तेजोवलय अपना काम अनायास ही अपने छंग से करता रहता है। शरीर के ऊपर वह रक्षा कवच की तरह चढ़ा रहता है। बाहरी आक्रमणों से रक्षा करता है। जो हानिकारक तत्व विषाणुओं के रूप में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष आक्रमण करते रहते हैं, उन प्रहारों से बचाव करता है। सामान्यजनों को वातावरण के सम्पर्क का प्रभाव अपनी ओर खींच ले जाता है, हावी हो जाता है। फलतः व्यक्ति अपने को असहाय अनुभव करता है और बिल्ली के मुँह में दबे हुए चूहे की तरह सभीपवर्ती 'प्रभावों से प्रभावित होता चला जाता है। अपनी निरोधक शक्ति प्रायः सीमित, न्यून पड़ने लगती है। जीवट भी स्वल्प मात्रा में होती है। किन्हीं कारणों से मनुष्य देखने में भला चंगा होने पर भी भीतर से खोखला बना रहता है, यही वास्तविक दुर्बलता है। इस स्तर के दुर्बल व्यक्ति न पराक्रम कर पाते हैं और न साहस दिखा पाते हैं। सृजन प्रयोजनों में उनका व्यक्तित्व बहुत हल्का पड़ता है। प्रकृतिगत वातावरण जन्य मानसिक प्रहार एवं पतनोन्मुख आकर्षण इन दुर्बलों को चाहे जिस दिशा में घसीटते और कठपुतली की तरह नचाते रहते हैं। उनकी अपनी सृजन क्षमता, संकल्प शक्ति कुछ ऐसा नहीं कर पाती कि अपनी आकर्षण शक्ति से अभीष्ट सहयोग सम्मान, विश्वास खींचकर

बुला सके । इस अभाव को अध्यात्म की भाषा में ओजस् की कमी कह सकते हैं, जिसे उपकरणों से अथवा दिव्य चम्बुओं से प्रत्यक्ष भी देखा जा सकता है । तेजोवलय कस्तुतः अन्तरंग में समाहित प्राण शक्ति का बाहर झाँकता हुआ, मैंद्वराता हुआ स्वरूप है । इसे दृष्टि कौतुक या अविज्ञात का ज्ञान भर नहीं समझा जाना चाहिये, करन् यह मानकर चलना चाहिये कि बलिष्ठता का यह जीवन्त प्रमाण परिधान है ।

तेजोवलय की स्थिति में प्रयत्नपूर्वक परिवर्तन किया जा सकता है । वह उच्चस्तरीय भी होता है और निकृष्टतम् भी । सूप सौन्दर्य वाले व्यभिचारियों में, वेष्याओं में, ठगों में, क्रूर आक्रान्ताओं में यह भयावह स्तर का होता है । इसे असुरताका परिचायक कह सकते हैं । इसका सघन होना धारणकर्ता के पतन का द्वार खोलता है । जिस पर प्रभाव छोड़ता है उसे अशक्त, असहाय बनाकर निर्जीव पराधीन की स्थिति में लापटकता है । इस आसुरी तेजोवलय का रंग कालिख लिये हुए होता है । दैत्य-दानवों की आकृतियों काले रंग की चित्रित की जाती हैं, पर यह त्वचा की निरख-परख पर लागू नहीं होती । गोरे रंग के हिटलर एवं नीतसे जैसे महत्वाकांक्षी व्यक्तियों का व्यक्तित्व दानवी पाया गया । रावण आदि लंकावासी हो सकता है कि गोरे रंग के रहे हों । उष्ण कटिबन्ध क्षेत्र में रहने वाले सभी निवासियों की चमड़ी काली होती है, पर उनमें भी सज्जनता का बाहुल्य पाया जाता है । इस प्रकार रंगों का निर्धारण त्वचा को देखकर नहीं, तेजोवलय में घुले काले रंगों को देखकर किया जाता है । सन्त, सज्जन एवं देव प्रकृति के लोगों का तेजावलय पीली झलक लिये हुए प्रतीत होता है । वे समीपवर्ती लोगों को विविध-विविध अनुग्रह अनुदान अनायास ही देते रहते हैं ।

तेजोवलय की न्यूनाधिकता तथा रंगों की झलक देखते हुए व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक स्थिति का अन्तः स्वरूप जाँचा जा सकता है । भले-बुरे की, दुर्बल-सबल की, दुर्जन-सज्जन

की परख की जा सकती है। उनसे बचा अथवा लिपटा जा सकता है। व्यक्तित्वों का विश्लेषण इस आधार पर हो सकता है। किस के शरीर में कहाँ किस प्रकार के विजातीय द्रव्य जमा हैं, इस प्रकार का रोग निदान जहाँ अंग परीक्षण की अन्यान्य निदान पद्धतियों द्वारा होता है, वहाँ वह कार्य विभिन्न स्थानों से शरीर में उभरने वाले भिन्न-भिन्न स्तर के तेजोवलय को देखते हुए भी वस्तु-स्थिति समझ कर सम्पन्न किया जा सकता है। इसी प्रकार मानसिक न्यूनताओं, विपन्नताओं को भी समझा जा सकता है। चरित्र का भी बहुत हद तक पता लगाया जा सकता है। तेजोवलय को पढ़ सकने की प्रक्रिया यदि किसी को हस्तगत हो सके तो वह दूसरों के बारे में इतना अधिक जान सकता है जितना कि गहरी जाँच-पड़ताल से भी संभव नहीं। इस आधार पर अनुपयुक्त सम्पर्क से बचा जा सकता है और उपयुक्त सान्निध्य से शक्ति कर्ण जैसा लाभ उठाया जा सकता है।

तेजोवलय मात्रा स्थिति का परिचायक नहीं है। उसे घटा-बढ़ाकर दूसरों की स्थिति में ऐसा परिवर्तन किया जा सकता है, जिससे समग्र संतुलन बन सके। विपन्नता सुधारी और सुसंस्कारिता बढ़ाई जा सके।

जिस प्रकार पैसे के लेनदेन से रुके व्यवसाय चल पड़ते हैं, उसी प्रकार तेजोवलय की आवश्यक मात्रा किसी को हस्तांतरित करके उसके द्वारा शारीरिक रोगों से, मानसिक उद्गेंगों से, प्रतिकूलता भरे संकटों से, अभावों से, कषाय-कल्मषों से भी छुटकारा दिलाया जा सकता है। यह एक बड़ी उपलब्धि है। शरीर में मांस तो खा-पीकर भी बढ़ाया जा सकता है, पर उसमें प्राण तत्त्व की प्रचुरता भर लेना यह एक असाधारण कौशल एवं पुरुषार्थ है। इसे पाकर निजी व्यक्तित्व को समुन्नत स्तर का प्रभावशाली प्रतिभावान बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि सम्पर्क क्षेत्र में इतना अदृश्य अनुदान बौंटा जा सके, जिसकी तुलना कर्ण जैसे दानवीर

से की जा सके ।

इस हेतु प्राण अभिवर्धन के लिये साधनात्मक प्रयोग करने पड़ते हैं । इसके लिये प्राण योग से सम्बन्धित ऐसी साधनायें करनी पड़ती हैं, जो अपने स्तर के अनुसूप हों । सभी भेड़ों को तो एक लाठी से हाँका जा सकता है, पर ऐसा नहीं हो सकता कि सभी साधकों को एक ही साधना बतायी जा सके । रोग, निदान व उनकी स्थिति में भिन्नता के आधार पर उन्हें भिन्न-भिन्न औषधियाँ दी जाती हैं । अले ही वे स्वस्थता के लिये लालायित एक जैसी मनःस्थिति के क्यों न हों ? यह बात साधना के सम्बन्ध में भी है । प्राणयोग के अन्तर्गत प्राणाकर्षण का, प्राणायाम प्रक्रिया का, सर्वसुलभ आकर्षक प्रयोग है, पर उसे अन्त नहीं आरंभ समझना चाहिये और उसका अभ्यास बन पड़ने पर अपने अनुकूल प्राणायाम चुनना चाहिये । लोम-विलोम प्राणायाम सूर्य वेधन प्राणायाम तथा नाड़ी शोधन प्राणायाम अदि के अपने-अपने विधान हैं । जिनका विस्तार प्रसंग आने पर उपयुक्त मार्ग-दर्शक से समझा जा सकता है ।

संकल्प शक्ति को बढ़ाना भी इसी प्रक्रिया का व्यावहारिक पक्ष माना गया है । इसके लिये आत्म संयम एवं परमार्थ के छोटे-छोटे पुण्य प्रयासों के ऐसे संकल्प लेने चाहिये, जो सरल भी हों और नियत अवधि में निश्चित रूप में पूरे भी हो सकें । जो अपनी स्थिति एवं रुचि के अनुसूप हों, उसके लिये व्रत लेने का साहस करना चाहिये, उसे हर हालत में करते रहने का प्रण करना चाहिये । इतनी तत्परता और तन्मयता उसमें नियोजित करनी चाहिये, जिससे उसका पूरा कर सकना सुनिश्चित रूप से संभव हो सके । ऐसे छोटे-छोटे व्रत लेते रहने और पूरे करते चलने की श्रृंखला मनोबल बढ़ाने में अत्यन्त सहायक होती है । घरेलू एवं व्यावसायिक क्रियाकलापों को नित्य ही करना पड़ता है । उनका अनुमान अभ्यास भी रहता है, किन्तु व्रत धारण एवं पुण्य परमार्थ की दिशा में

कहना—सुनना ही बन पड़ता है। उसे व्यवहार में उतारने का यदा—कदा ही अवसर मिलता है। इस अपेक्षित दिशा में प्रगति होनी चाहिये, तभी प्राण चेतना को बढ़ा सकना सम्भव है।

प्राण तत्त्व ही मनुष्य में उच्चस्तरीय समर्थता का आधार है। तेजोवलय के रूप में उसी की व्याख्या—विवेचना होती है। इस दिव्य क्षमता को उपलब्ध करने के लिये जहाँ योग साधनाओं का महत्व है, वहाँ संकल्प शक्ति का भी स्थान है। जिन्हें इच्छा उत्कण्ठा है, उन्हें अपना संकल्प बल विकसित करने के लिये पुण्य—परमार्थ के साधना व्रत—संयम निबाहते हुए सम्पन्न करते रहना चाहिये।



## कारण शरीर की विकासोन्मुख ध्यान—धारणा

ईश्वर, जीव, प्रकृति की विवेचना ही अध्यात्म तत्त्वज्ञान का प्रमुख विषय है। इन तीनों की सत्ता मानवी काय—कलेवर में विद्यमान है। स्थूल शरीर प्रकृति का प्रतिनिधित्व करता है, सूक्ष्म शरीर जीव चेतना का और कारण शरीर अंतःकरण का तारतम्य परब्रह्म के साथ जोड़ता है। इस समस्त ब्रह्माण्ड का प्रसार—विस्तार मनुष्य की प्रत्यक्ष सत्ता में अप्रत्यक्ष रूप से अपने मनोरम स्वरूप को दर्शाता है।

क्रिया और कल्पना यह दोनों तत्त्व अन्यान्य प्राणियों में न्यूनाधिक मात्रा में पाये जाते हैं। मनुष्य में जो अतिरिक्त भावतत्त्व है, वही उसकी आध्यात्मिक विशेषता है। यही वह सीढ़ी है, जिसके सहारे परब्रह्म के साथ सघन सायुज्य बनता है। यही वह विशेषता है जिसके कारण उसे ईश्वर का युवराज कहा जाता है।

क्रियायोग को सांसारिक सफलता के लिये, वैचारिक तत्त्व

दर्शन को प्रज्ञा की उपलब्धि के लिये और आवयोग को दिव्य तत्त्व के साथ एकात्मता प्राप्त करने के लिये आवश्यक माना जाता है। अक्षितयोग सबसे ऊँचा है। मीरा कहती थी “सबसे ऊँची प्रेम सगाई” प्रेम के बन्धनों में बँधकर माता-संतान में, पति-पत्नी में, मित्र-मित्र में घनिष्ठता पैदा होती है, उसका आनन्द लेते सभी भावुक जन देखे जाते हैं। यही जब आदर्शों के समुच्चय परब्रह्म के साथ जुड़ जाता है, तो आत्मा परमात्मा में समर्पित होकर तट्टूप बन जाता है। इसी को जीवन का परमलक्ष्य माना गया है। चेतन जगत की विशालता ही परमेश्वर है, उसी के अनुरूप अक्षतजन अपने को सुविस्तृत करते हैं। समर्पण साधना यही है। अद्वैत चिन्तन इसी को कहते हैं। तादात्म्यता में ही ईश्वर दर्शन का ऐसा रसास्वादन मिलता है, जिसकी प्यास में जीव कस्तूरी के हिरन की तरह दिशा-दिशा में तलाशता आगता फिरता है।

उच्चस्तरीय भाव स्वेदना विकसित करने के लिये आरंभिक अभ्यास यह है कि किसी परमार्थ प्रतीक को अपना इष्ट बनाकर उसके साथ आत्मीयता का सघन सम्बन्ध जोड़ता है। साकार उपासक इसके लिये किसी देव प्रतिमा को अपना आराध्य बनाते हैं और उसकी प्रत्यक्ष स्थापना करके भाव भरा सर्वोच्च रिश्ता जोड़ते हैं। देव प्रतिमाओं के माध्यम से निराकार परब्रह्म की अचिन्त्य छवि को दृश्यमान-साकार बनाते हैं। इस साकार उपासना में दो परिकल्पनायें करनी होती हैं। एक यह कि प्रस्तुत प्रतिमा धातु या पाणाड़ नहीं वरन् उच्च आदर्शों की संगठना है। उसके प्रत्येक अवयव में अपने-अपने स्तर की उत्कृष्टता छलकती है। इस प्रकार की मान्यता ‘विश्वास’ कहलाती है। इस स्थापना पर श्रद्धा का, आत्मीयता का आरोपण किया जाता है। उसके प्रति प्रेम भाव दशनि के लिये नवधा अक्षित में प्रयुक्त होने वाले पूजा अर्चन के पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि अर्पित करने होते हैं। वस्तुओं का यह उत्पादन वस्तुतः अपनी विश्रृतियों को विराट् ब्रह्म के लिये स्थाई

समर्पण करने की मानसिकता को जगाता है ।

प्रकारान्तर से साकार पूजा अर्चना इस मानसिक पृष्ठभूमि का निर्माण है कि आदर्शों के प्रति अपना समय, श्रम, मनोयोग एवं साधन इस स्तर का अर्पित किया जायगा कि जिसमें उदासीनता का पुट नहीं गहरी उमंगों का भावुक समावेश हो । इस प्रयास को परमार्थ परायणता की तैयारी कह सकते हैं । बद्ध जीव संकीर्ण स्वार्थपरता के छोटे दायरे में नाली के कीड़ों की तरह हाथ—पैर पटकता रहता है । गूलर के पेड़ों में उगते रहने वाले भुनगों की तरह अंधी हलचलें करता रहता है, पर जब उसके अन्तराल में प्रेम भावना का उदय होता है, तो 'स्व' को 'पर' में समर्पित करने के लिये आतुर हो उठता है ।

प्रेम को प्रतिमा के माध्यम से गुरु या महामानव को आधार मानकर विकसित तो किया जा सकता है, पर उसे उस दायरे में सीमित नहीं रखा जा सकता । सूर्य पूर्व से उदय तो होता है पर सदा उदयाचल पर ही नहीं बैठा रहता । उसे समस्त जगती पर अपनी ऊर्जा-आभा बखेरनी पड़ती है । भक्तजन किसी छोटे भगवान के साथ लिपटकर छोटे नहीं बने रहते, वरन् महान के साथ जुड़कर अपना दृष्टिकोण, चिन्तन एवं प्रयास सम्पर्क क्षेत्र से आगे बढ़कर अधिकाधिक सुविस्तृत करते जाते हैं । अग्नि के लिये समर्पित होने वाला ईंधन अग्नि रूप ही हो जाता है । भक्त की समस्त भाव स्वेदनायें ईश्वर जैसी उदार एवं महान बनती जाती हैं । उसे सत्प्रवृत्ति संवर्धन के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं ।

निराकार साधना का एक ही उपाय-उपचार है—ध्यान । तत्परता, तन्मयता की प्रतिक्रिया ही एकाग्रता के रूप में दृष्टिगोचर होती है । महान प्रयोजन के साथ जुड़ते ही चंचलता चली जाती है और उद्देश्य के प्रति ऐसी लगन लगती है कि अन्य कहीं मन दौड़ता ही नहीं । मनोनियह को शक्तियों का, सिद्धियों का, विभूतियों का केन्द्र माना गया है । यह मनोयोग साधने के लिये ध्यानयोग का आश्रय लेना पड़ता

है। ध्यान का अर्थ है—मानसिक बिखराव को रोककर उसे तीक्ष्ण बनाना और बाण की तरह निर्धारण में अपने साधनों को प्रविष्ट करवाना। अर्जुन को मत्स्य वेद की सफलता इसी आधार पर मिली थी। आतिशी शीशों के छोटे से दायरे में सूर्य किरणों को एकनित करने पर केन्द्र बिन्दु पर आग जलने लगती है। ठीक इसी प्रकार ध्यान की सधनता से अन्यान्य विषयों पर मन नहीं भटकता। इष्ट और भक्त एक हो जाते हैं। ध्यान योग की यही पृष्ठभूमि है।

जार्ज बर्नार्ड्सा जैसे साहित्यकार, राममनोहर लोहिया जैसे समाज सेवी बहुत आग्रह करने पर भी विवाह के लिये तैयार नहीं हुए, वे कहते थे इससे ध्यान बँटिगा और जिस एकाग्रता पूर्वक निर्धारित लक्ष्य में लगे, उतनी तन्मयता फिर न रह सकेगी और कार्य में व्यवधान आ जायगा। ध्यान योग का स्वरूप यही है कि चित्तवृत्तियों की अगदङ्ग रुक जाय और एक केन्द्र पर पूरी तरह टूटे। बिखरी भाप निरर्थक चली जाती है, पर जब उसे एक केन्द्र पर नियोजित किया जाता है, तो रेलगाड़ी ले दौड़ती है। बास्त फैली हुई रहे, तो चिनगारी लगने पर 'भक' से जल जाती है, पर जब उसे बंदूक की छोटी नाली में भरकर एक निशाने पर दागा जाता है, तो उसे बिस्मार करके रख दियां जाता है। फायर ब्रिगेड का पानी भी जब एक छोटी नली में होकर फेंका जाता है, तो उसकी तेज घार अग्निकांड को बात ही बात में बुझा देती है।

ध्यान धारणा के लिये कोलाहल और हलचलों रहित स्थान चुनना चाहिये। पूर्व में मुख रखें। प्रातःकाल का वह समय निकालें जिसमें सूर्य क्रमशः उदय होता हो। ऐसा स्थान या तो सबसे ऊपर वाली छत पर हो सकता है या ऐसा मैदान जिसमें पहाड़ियों, पेड़ों की ऊँचाई प्रातःकालीन सूर्य दिशा में बाधा न पहुँचाती हो। एक-दो सैकण्ड ही छुले सूर्य का दर्शन करके और खेड़े बन्द कर लेनी चाहिये और आवना करनी चाहिये कि चारों ओर संव्याप्त प्रकाश को अपने तीनों शरीरों

में खींचा, अरा जा रहा है ।

शरीर के तीन शक्ति केन्द्र हैं । नाभि स्थूल शरीर से संबंधित । मस्तिष्क—सूक्ष्म शरीर का केन्द्र बिन्दु । हृदय कारण शरीर की भावस्वेदनाओं का उद्गम । इन तीनों ही स्थानों पर छोटे कमल केन्द्रों की स्थापना भावनापूर्वक नियोजित करनी चाहिये । सूर्य का प्रकाश पाते ही कमल पुष्ट खिलने लगते हैं । वही उपक्रम अन्तराल के तीनों कमलों को सविता देव के अरुणोदय प्रकाश से खिलते हुए अनुभव करना चाहिये । कमल पुष्टों के प्रातःकालीन सूर्य प्रकाश के साथ खिलने की स्थूल और सूक्ष्म शरीरों सहित विशेषतया हृदय—कमल खिलने की अनुभूति उभारनी चाहिये । खिले कमल पुष्ट से सुगन्ध, शोभा, कोमलता और सात्त्विकता का अधिकाधिक समावेश होता जाता है । भावना करनी चाहिये कि कारण शरीर हृदय कमल में इसी प्रकार सर्वतोमुखी विकास के दिव्य अनुदानों से लाभान्वित हो रहा है । इस साधना को पद्म हिन्दू से आरंभ कर क्रमशः बढ़ाते हुए आधे घण्टे तक पहुँचाने का निर्धारण करना चाहिये । इस प्राक्क्रेया से जो उपलब्धियाँ हस्तगत होती हैं, वे साधक को निहाल कर देती हैं । ○

## समग्र साधना का व्यावहारिक स्वरूप

तीनों शरीरों के परिष्कार एवं उन्नयन के लिये अपना प्रयास उसी प्रकार नियमित रूप से जारी रखना चाहिये, जिस प्रकार पहलवान बनने वाले अखाड़े में, विद्वान बनने वाले विद्यालय में और धनी बनने वाले कारखाने—दफ्तर में नियमित रूप से जाते रहे हैं । जाटूगरी में तो यह कौतुक हो सकता है कि 'हाथ की सफाई' वाली चालाकी को किसी प्रवीण से थोड़ी ही देर में सीख लिया जाय और दस—पाँच दिन के अन्यास से ही उस कौतुक को दर्शकों में दिखाकर उन्हें

चमत्कृत किया जा सके । किन्तु यह आतुरता आत्मिक प्रगति के लिये काम नहीं आ सकती । उसके लिये दीर्घकालीन योजना बनाने और व्रतशील बनकर संकल्पर्वक निवाहनी पड़ती है । जो तुर्त-फुर्त आत्मिक उपलब्धियों से अपना भण्डार भर लेने के लिये आतुर हों उन बाल बुद्धि वालों को निराशा ही हाथ लगती है । बरगद का वृक्ष अपनी अवधि पर ही विकसित होता और फूलता है ।

तीन शरीरों को जागृत करने, प्रखर बनाने के लिये दैनिक उपासना का क्रम इस प्रकार बनाना चाहिये—

प्रातःकाल सूर्योदय के समीपवर्ती समय में उपासना के लिये शुद्ध होकर बैठा जाय । गायत्री की छवि सामने रखी जाय । उसका जल, अक्षत, पुष्प, धूप, नैवेद्य से पूजन वन्दन किया जाय । आवना की जाय कि उस आधशक्ति, महाशक्ति की विशिष्ट प्राण चेतना उस उपासना वातावरण में भर गयी । उस ऊर्जा का सहज प्रभाव साधक को उपलब्ध होने लगा ।

इसके बाद गायत्री मंत्र का जप आरम्भ किया जाय । होठ, जीभ, कण्ठ तो गतिशील रहें, पर उच्चारण इतना अस्पष्ट हो कि उसे अन्य कोई समीप बैठा हुआ व्यक्ति भी न सुन सके । यह जप न्यूनतम पद्धति भिन्न होना चाहिये ।

जप के साथ-साथ ध्यान भी चलना चाहिये । ध्यान में प्रातःकालीन स्वर्णिम सूर्य को माध्यम बनाया जाना चाहिये । आवना की जानी चाहिये कि सविता की सूक्ष्म प्राण चेतना अपने काय कलेवर में प्रवेश कर रही है । उसका नाभिचक्र में, हृदयचक्र में और मस्तिष्क मध्य के सहस्रार चक्र में प्रवेश हो रहा है । यह तीनों ही कमल चक्र मुँदी कली की स्थिति में प्रसुप्त प्राय रहते हैं । सूर्य की ऊर्जा से प्रभावित होकर वे खिलने लगते हैं । साथ ही इन तीनों केन्द्रों में सन्निहित शारीरिक, मानसिक एवं अन्तःकरण में समाहित अनेकानेक दिव्य प्रभाव विकसित एवं सक्रिय समुन्नत होने लगते हैं । यह ध्यान जप के साथ-साथ ही चलता रहता है । इसमें

शरीर और मन दोनों का कार्य चलता है, फलतः चंचलता का अवरोध मिटता है और एकाग्रता सिद्धि का लाभ मिलने लगता है।

जप और ध्यान की मध्यवर्ती कड़ी है प्राण विनिमय या प्राणायाम। इसे अपनाया जाना अत्यन्त आवश्यक है। भावना करनी चाहिये कि समग्र ब्रह्माण्ड में विशेषतया अपने इर्द-गिर्द महाप्राण का भरा-पूरा भण्डार विद्यमान है। उसे सांस के साथ खींचा और आत्मसत्ता के कण-कण में प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

जितनी गहरी सांस खींचना संभव हो धीरे-धीरे उसे खींचा जाय। खींचने के आधे समय तक उसे भीतर रोका जाय। इसके उपरान्त खींचने जितने समय में धीरे-धीरे उसे बाहर निकाला जाय। खींचने को पूरक, रोकने को कुंभक और निकालने के रेचक कहते हैं। खींचते समय प्राण वायु का नासिका, फुफ्फुस आदि में होकर समस्त शरीर में उसके पहुँचने की भावना करनी चाहिये। रोकते समय यह विश्वास किया जाय कि वह खींचा गया तत्व कण-कण में समाविष्ट, स्थिर हो रहा है। सांस छोड़ते समय यह धारणा की जानी चाहिये कि संचित समस्त मलीनतायें बहिर्गत निष्कासित हो रही हैं। यह एक प्राणस्थाम हुआ। इसी की पुनरावृत्ति जप के साथ-साथ चलती रहनी चाहिये। ध्यान तो अपने क्रम से चलता ही रहेगा। जप से स्थूल शरीर, प्राणायाम से सूक्ष्म शरीर और ध्यान से सहस्र दल कमलचक्र का विकास होने से कारण शरीर परिपुष्ट होता है। जप ध्यान के अन्त में सूर्य को अर्धजल चढ़ाने की बात भुला न दी जाय।

प्रातः बिस्तर पर औंख खुलते ही नया जन्म मिलने की खुशी मनानी चाहिये और उसको दिन भर का एक आयु खण्ड मानकर उसका श्रेष्ठतम् सटुपयोग करने की योजना बनानी चाहिये। रात्रि को सोते समय बिस्तर पर मृत्यु का ध्यान करना चाहिये और निद्वा को मरणोत्तर काल मानना

चाहिये । इस प्रकार जन्म और मरण के साथ जुड़े हुए महान् दायित्वों का स्मरण हर दिन होता रहता है और जीवन काल के बहुमूल्य दिनों में से एक का भी दुरुपयोग करने के लिये मन नहीं बहकता ।

कहा जा चुका है कि उपासना, साधना और आराधना का त्रिविधि संयोग मिलने से ही एक समग्र साधना प्रक्रिया बन पड़ती है । अन्न, जल, वायु की तरह यह तीनों ही आत्मिक प्रगति की बात सोचने वालों के लिये अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं । यह तीनों ही साथ—साथ चलनी चाहिये । जिस प्रकार जप, प्राणायाम और ध्यान साथ—साथ उपासना काल में चल सकते हैं, उसी प्रकार समूची जीवनचर्या को ही साधना अवधि मानकर उसमें उपासना, साधना, आराधना का सुनिश्चित समावेश रखना चाहिये । उपासना प्रातःकाल पन्द्रह मिनट नियमित रूप से करते रहने से भी काम चल सकता है, किन्तु साधना—आराधना का समावेश तो उठने से लेकर सोने तक की अवधि में समग्र रूप से समाविष्ट रहना चाहिये ।

उपासना चिन्तन की, साधना चरित्र की और आराधना व्यवहार की उच्चस्तरीय प्रक्रिया है । साधना का तात्पर्य है—आत्मशोधन, आत्मपरिष्कार । इसके लिये इन्द्रिय नियंत्रण है । स्वादेन्द्रिय और जननेन्द्रिय पर अंकुश रखा जाना चाहिये । चटोरेफन और कामुकता से बचा जाना चाहिये । मानवी गरिमा के अनुरूप, विवेक सम्पन्न और आदर्शवादी कार्यक्रम बनाकर समय गुजारना चाहिये । इसमें मुस्कराते रहने की आदत ढालना आवश्यक है । दिनचर्या को इस प्रकार सुनियोजित किया जाना चाहिये कि एक क्षण भी आलस्य प्रमाद में न गुजरे ।

इन्द्रिय संयम की ही तरह अर्थ संयम, समय संयम, विचार संयम भी आवश्यक है । कमाई नीतिपूर्ण हो और उसका उपयोग मितव्यता पूर्वक सत्प्रयोजनों में ही किया जाय । समय को परोष्ठ दैवी सम्पदा का प्रत्यक्ष स्वरूप मानकर उसका

एक-एक पल श्रेष्ठतम सदुपयोग में नियोजित रखने की सतर्कता भरती चाहिये । विचार संयम का तात्पर्य है कि एक भी अनैतिक या निर्धक विचार मस्तिष्क में प्रवेश न करने दिया जाय । यह तभी संभव है जब मन को कर्तव्य परायणता एवं पुण्य परमार्थ के निमित्त ताना-बाना बुनते रहने, योजना बनाते रहने के लिये नियोजित रखा जाय ।

उपासना साधना के अतिरिक्त तीसरा पक्ष है-आराधना । आराधना अर्थात् सेवा संलग्नता । सेवा धर्म का उच्चस्तरीय निर्वाह जनमानस के परिष्कार और सत्प्रवृत्ति संवर्धन से ही हो सकता है । इसके साथ ही पिछड़ों को आगे बढ़ाना और प्रगतिशीलों को ऊँचा उठाना भी सामयिक कार्य है । सम्पर्क क्षेत्र में आवश्यकता पड़ने पर इसे कार्यान्वित किया जा सकता है इसलिये इस प्रकार के कार्यों को आपत्ति धर्म कहा गया है । जब आवश्यक हो तब उन्हें भी करना चाहिये, पर मान्यता यह ही बनाये रहना चाहिये कि व्यक्तित्वों को सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों के साथ जोड़ सकता हो, दूरगमी चिरस्थायी सत्परिणाम उत्पन्न कर सकने वाला कार्य ही वास्तविक पुण्य परमार्थ है ।

निजी जीवन निर्वाह को औसत नागरिक स्तर का रखना, भविष्य के लिये स्वार्थ संलिप्त महत्वाकांशाओं का उन्माद न अपनाना ही वह प्रथम चरण है, जिसे सम्पन्न कर लेने के उपरान्त ही सेवा साधना की, आराधना की, सुनियोजित व्यवस्था बन पड़ती है । समय, श्रम, मनोयोग एवं साधनों को परमार्थ में लगाया जा सकता है । तभी आदर्शवादी, उच्चस्तरीय, महामानवों जैसे क्रियाकलाप अपना सकने की संभावना मूर्तिमान हो सकती है ।

तीन शरीरों को समुन्नत करने पर आत्मसंतोष, लोकसम्मान और दैवी अनुग्रह के वास्तविक जीवन लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं । इस मार्ग पर चलते हुए ही व्यक्तित्व को सद्गुणों की दिव्य विभूतियों से सम्पन्न किया जा सकता है ।

अनुकरणीय और अभिनन्दनीय महापुरुषों जैसे कार्य कर सकने की प्रतिभा इसी मार्ग पर चलते हुए हस्तगत होती है। अनेकानेक अतीन्द्रिय क्षमतायें, दिव्य विशूतियाँ इसी अवलम्बन को अपनाने से उपलब्ध होती हैं। प्रगति, प्रसन्नता और सुख-शान्ति का, उज्ज्वल भविष्य के निर्माण का यह एकमेव सुनिश्चित मार्ग है।

उच्चस्तरीय व्यक्तित्व एवं विशिष्ट स्तर की प्रतिभा प्राप्त करने के लिये ऋद्धि-सिद्धियों का अधिकारी बनने के लिये जहाँ निजी साहस संकल्प एवं प्रयास आवश्यक है। वहाँ यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि किसी समृद्ध प्रेरणा स्रोत के साथ जुड़ा जाय। उसका भाव भरा सहयोग प्राप्त किया जाय। विद्यार्थी पढ़ता तो अपनी ही मेहनत से है, पर उसे अभिभावकों की अध्यापकों की सही सहायता मिलना भी आवश्यक है। यदि वह न मिले तो विद्यार्थी के लिये अपना निर्वाह ही कठिन हो जायेगा फिर विद्वान्, पहलवान, धनवान आदि प्रगतियों का लाभ प्राप्त कर सकना किस प्रकार संभव होगा। अपनी छोटी पूँजी के आधार पर तो छोटा ही व्यापार किया जा सकता है, पर यदि बैंकों से ऋण और शेयर खरीदने वालों का सहयोग मिलने लगे, तो देखते-देखते कोई भी क्रिया-कुशल बढ़ा-चढ़ा कारोबार खड़ा कर सकता है।

बिजलीघर से तार जोड़ लेने पर नगर के अनेकों पंखे, बल्ब, हीटर, कूलर आदि चलने लगते हैं। भरी टंकी के साथ जुड़ा हुआ नल बराबर पानी देता रहता है। हिमालय के साथ जुड़ी हुई नदियों सदा प्रवाहित रहती हैं। पति की कमाई पर पत्नी, बाप की कमाई पर औलाद मोद मनाती रहती है। यही बात साधना क्षेत्र में भी है। एकाकी साधक अपने बलबूते कुछ तो कर ही सकता है और देर सबेर लम्बी यात्रा भी पूरी कर लेता है इसलिये एकाकी प्रयास को भी झुठलाया तो नहीं जा सकता, पर सुविधा इसी में है कि किसी शक्ति भण्डार के साथ जुड़कर अपनी प्रगति संभावना को सुनिश्चित किया जाय।

गुरु वरण इसी को कहते हैं। यह एक अनुबन्ध है, जिसमें दोनों पक्ष अपनी-अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह करते और परस्पर पूरक बनकर दोनों पक्ष प्रसन्नता एवं सफलता उपलब्ध करते हैं। अंधे-पर्गी के संयोग से नदी पार कर लेने वाली बात इसी प्रकार बनती है।

नारद के साथ जुड़कर पार्वती, सावित्री, वाल्मीकि, ध्रुव, प्रह्लाद आदि ने अपने साधारण स्तर को असाधारण बनाया था। बुद्ध के साथ जुड़कर अंगुलिमाल, अम्बपाली, अशोक जैसों ने अपने स्तर का कायाकल्प कर लिया था। चाणक्य, चन्द्रगुप्त, समर्थ शिवा, परमहंस विवेकानन्द, गाँधी विनोबा आदि के अगणित युग्म ऐसे हैं, जिनमें शक्ति सम्पन्नों के साथ जुड़कर असमर्थों ने भी उच्चस्तरीय सफलता पायी। पारस लोहा, स्वाति-सीपी, चन्दन-झांखाड़ आदि के उदाहरण भी ऐसे हैं, जिनमें समर्थों का सहयोग प्राप्त करके असाधारण प्रगति का वातावरण बनता है। गुरु शिष्य का गठबन्धन इसीलिये आध्यात्मिक प्रगति के लिये आवश्यक माना गया है। यह सब सुयोग मिलकर एक सफल फलदायी साधना की पृष्ठभूमि बनाते हैं। अंतःशक्ति के उभार से अपने चमत्कार इसके माध्यम से सहज ही देखे जा सकते हैं।